

## ५४५. अन्तराऽन्तरेणयुक्ते २।३।४॥

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्।

अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

अन्तरान्तरेणयुक्ते। अन्तराश्च च अन्तरेणश्च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वोऽन्तरान्तरेणौ, ताभ्यां युक्तम्, अन्तरान्तरेणयुक्तम्, तस्मिन् अन्तरान्तरेणयुक्ते, तृतीयातत्पुरुषः। अन्तराऽन्तरेणयुक्ते सप्तम्येकवचनान्तम्। कर्मणि द्वितीया से द्वितीया की अनुवृत्ति आती है।

अन्तरा और अन्तरेण इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरा शब्द के योग में सम्बन्ध में षष्ठी प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। अन्तरा (मध्य) तथा अन्तरेण (बिना) ये दो अव्यय शब्द हैं। विशेष ध्यातव्य है कि अन्तरा शब्द अव्यय एवं आबन्त उभयविध है तथा अन्तरेण शब्द अव्यय एवं तृतीयान्त। परन्तु यहाँ दोनों परस्पर साहचर्य से दोनों ही अव्यय गृहीत होते हैं, तद्भिन्न नहीं।

अन्तरा त्वां मां हरिः। तुम्हारे और मेरे मध्य में हरि हैं। यहाँ मध्यवाचक अन्तरा शब्द के योग में युष्मद् और अस्मद् शब्द से षष्ठी को बाधकर द्वितीया विभक्ति हो गयी- त्वाम्, माम्।

अन्तरेण हरिं न सुखम्। हरि के बिना सुख नहीं है। यहाँ वर्जनार्थक एनप्-प्रत्ययान्त अन्तरेण शब्द के योग में हरि शब्द से षष्ठी द्वितीया विभक्ति होकर हरिम् बन जाता है।

किमनयोरन्तरेण गतेन इत्यादि वाक्यों में अन्तरेण शब्द का विशेष अर्थ है, न कि बिना अर्थ और अन्तरेण तृतीयाविभक्तियुक्त है, न कि एनप्-प्रत्ययान्त अव्यय। अब प्रश्न होता है कि प्रकृतसूत्र में युक्ते पद के बिना ही

अन्तरान्तरेणयोः इतना मात्र दे देने से काम चल सकता था तो युक्ते शब्द का क्या प्रयोजन है? ताकि अन्तरा और अन्तरेण शब्दों का जिससे योग रहता है, उसी में द्वितीया हो और जिनके साथ योग नहीं हो, उन शब्दों में न हो। काशिकाकार ने इसका प्रत्युदाहरण दिया है- अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च सुघ्नस्य प्राकारः। यहाँ अन्तरा शब्द का योग तक्षशिला और पाटलिपुत्र शब्दों से है। अतः उनमें द्वितीया हुयी किन्तु सुघ्न के साथ नहीं है, अतः यहाँ द्वितीया नहीं हुयी।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि अन्तरा शब्द के योग में द्वितीया ही होती है तो हलोऽनन्तराः संयोगः सूत्र में और द्वयोश्चैवान्तरा कश्चित् इस भाष्यप्रयोग में द्वितीया क्यों नहीं हुयी? इसका समाधान यह है कि जिन दोनों में मध्यत्वनिमित्त अवधित्व का ज्ञान हो, वहीं पर ही द्वितीया होगी और जिनमें यह निर्णय नहीं है, वहाँ पर नहीं होगी। उपर्युक्त क्रमशः अनन्तराः, अन्तराः में उक्त अवधित्व निर्णय नहीं है, अतः द्वितीया नहीं हुयी।

## ५४६. कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३॥

इत्यधिकृत्य।

कर्मप्रवचनीयाः इति प्रथमाबहुवचनान्तमेकपदमधिकारसूत्रम्।

इत्यधिकृत्य। आगे के सूत्र कर्मप्रवचनीयाः के अधिकार से सम्पन्न होकर कार्य करते हैं। यह सञ्ज्ञासूत्र तथा अधिकारसूत्र दोनों हैं। अष्टाध्यायीक्रम में इस सूत्र से लेकर विभाषा कृञि (१.४.९७) से पूर्व तक इसका अधिकार है। प्रकृत सूत्र से आगे जिस-जिसका कथन किया जायेगा, उस-उसकी कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होगी।

कर्म=क्रियां प्रोक्तवन्तः=कथितवन्तः इति कर्मप्रवचनीयाः। कर्म को कहने के कारण इन्हें कर्मप्रवचनीय यह अन्वर्थ नाम प्राप्त है। जिन्होंने कर्म अर्थात् क्रिया को कहा है, उन्हें कर्मप्रवचनीय कहते हैं। कर्म+प्र+वच् से भूतकालिक कर्ता अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होकर समासादि के बाद कर्मप्रवचनीय शब्द बनता है। तदनुसार अतिक्रान्त क्रियागत सम्बन्ध को कर्मप्रवचनीय द्योतित करते हैं। वे वर्तमान में किसी क्रिया को द्योतित नहीं करते किन्तु अप्रयुज्यमान क्रिया का कथन करने वाले होने से क्रियाजनित सम्बन्ध के भेदक (विशेषण) मान लिये जाते हैं। भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीति हुआ करती है। यह सम्बन्ध अन्य पद द्वारा ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन पदों की शक्ति सीमित होती है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते हैं। अतः सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य पद के न रहने से कर्मप्रवचनीय को ही क्रियाजनित उस सम्बन्ध का भेदक मान लिया जाता है। ये स्वरूपतः उपसर्ग और निपात के तुल्य होने पर भी उपसर्गों से भिन्न हैं, परन्तु उपसर्गों की तरह क्रिया से पूर्व आते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि संहिता नित्या धातूपसर्गयोः के अनुसार उपसर्ग और धातु के

बीच में संहिताकार्य अनिवार्य होता है किन्तु कर्मप्रवचनीय में वह संहिताकार्य अनिवार्य नहीं है। अतः उपसर्गों का धातुओं के अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता है, परन्तु कर्मप्रवचनीय का स्वतन्त्र प्रयोग होता है। इनके योग में विविध सूत्रों से द्वितीया, पञ्चमी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। यह संज्ञा **उपसर्गसंज्ञा** और **गतिसंज्ञा** का बाध करता है। अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के बाद प्रादि का धातु के साथ योग होने पर भी उनमें उपसर्गत्व या गतित्व नहीं रहता। फलतः उपसर्ग को मानकर होने वाले षत्वादि कार्य एवं गतिसंज्ञाजनित अनुदात्तादि स्वर नहीं होते। सारांशतः **उपसर्ग** और **कर्मप्रवचनीय** में यही भेद है कि **उपसर्ग** वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं जबकि **कर्मप्रवचनीय** वर्तमान क्रिया के द्योतक नहीं होते। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में निम्नलिखित ग्यारह कर्मप्रवचनीयों का परिगणन किया है। अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि। उन्होंने ही इनके बाईस अर्थों का सम्बन्ध बताया है— हेतुलक्षण, सहाय, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग, वीप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार। यह सब आगे के सूत्रों से स्पष्ट हो जायेगा। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी कहा है—

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।

नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु द्योतकः॥

### ५४७. अनुर्लक्षणे १।४।८४॥

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।

**अनुर्लक्षणे।** अनुः प्रथमान्तं, लक्षणे सप्तम्यन्तम्। **कर्मप्रवचनीयाः** का अधिकार है। **लक्षण** यह भावप्रधान निर्देश है। अतः **लक्ष्यलक्षणभावरूपे** सम्बन्धे यह अर्थ निष्पन्न होता है।

‘लक्षण’ द्योत्य रहते ‘अनु’ शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

**कर्मप्रवचनीय संज्ञा** (विधेय) और **अनु संज्ञी** (उद्देश्य) है। अनु की निपातसंज्ञा भी होती है। उसके फलस्वरूप उसकी स्वरादिनिपातमव्ययम् से अव्ययसंज्ञा होने से उससे विहित सुप् प्रत्यय का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हो जाता है। आगे लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः सूत्र से लक्षणादि अर्थ द्योत्य होने पर अनु की पुनः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा कही गयी है। यहाँ लक्षण शब्द का तात्पर्य विशेष हेतु का होना अभिलक्षित है। **लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम्।** केवल चिह्न मात्र अर्थ तो यहाँ विवक्षित नहीं है। अतः लक्षण अर्थ में हेतु अर्थ भी निहित रहता है। ऐसी स्थिति में हेतौ सूत्र से तृतीया विभक्ति प्राप्त होती है किन्तु प्रकृतसूत्र के द्वारा लक्षण अर्थ में अनु की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाने से हेतौ सूत्र से विधीयमान तृतीया का बाध हो जाता है।

**गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।** यह **कर्मप्रवचनीयसंज्ञा** गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है। फलतः उपसर्गसंज्ञाजनित षत्व आदि कार्य नहीं होते हैं और गतिसंज्ञाजनित अनुदात्तादि स्वर नहीं होते। यहाँ पर कर्मप्रवचनीयसंज्ञा का फल है— अगले सूत्र से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अनु-शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति करना। इसका उदहारण अगले सूत्र में दिया गया है।

### ५४८. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८॥

एतेन योगे द्वितीया स्यात्।

पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः।

परापि हेतौ तृतीयानेन बाध्यते।

‘लक्षणेत्थम्भूत-’ (सू. ५५२) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया।** कर्मप्रवचनीयेन युक्तं कर्मप्रवचनीययुक्तं, तस्मिन् कर्मप्रवचनीययुक्ते, तृतीयातत्पुरुषः। कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तम्यन्तं, द्वितीया प्रथमान्तम्।

**कर्मप्रवचनीय-संज्ञक शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।**

कर्मप्रवचनीयसंज्ञा की चर्चा पीछे की जा चुकी है।

**जपमनु प्रावर्षत् (पर्जन्यः)।** वर्षा कब हुई? इस प्रश्न में यह उत्तर है— **जपम् अनु प्रावर्षत्** अर्थात् जप होते ही वर्षा हो गयी। हेतुभूत जप ही लक्षण है, क्योंकि जप होते ही वर्षा हुई। हेतुस्वरूप जप में वर्षण लक्षित होता है। जप-समाप्ति के पूर्व वर्षा

होने की सूचना अनु से द्योतित होती है। **कर्म प्रोक्तवन्तः** के अनुसार यहाँ अनु के द्वारा जप होना प्रोक्त होता है। इसके साथ ही अनु से वर्तमान काल में किसी क्रियाविशेष का बोध नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनु से किसी क्रिया का आक्षेप भी नहीं होता। आक्षेप मानने पर क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर कोई विभक्ति प्राप्त होगी। इस तरह यहाँ पर **जप** लक्षण है तथा **वर्षा** लक्ष्य। इस तरह **लक्ष्यलक्षण** का सूचक है अनु। वर्षा होने में हेतु **जप** है। उससे वर्षण होता है। अतः **अनुर्लक्षणे** सूत्र के द्वारा अनु की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने पर **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** सूत्र से अनु-शब्द के योग में **जप** शब्द में द्वितीया विभक्ति होकर **जपम्** बन जाता है।

परापि हेतौ तृतीया अनेन बाध्यते। 'लक्षणेत्थम्भूत-' इत्यादिना सिद्धे पुनः सञ्ज्ञाविधानसामर्थ्यात्। यहाँ **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** से द्वितीया तथा हेतौ से तृतीया इन दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परसूत्र होने के कारण **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** के नियम से परकार्य तृतीया विभक्ति होनी चाहिये थी, किन्तु इस द्वितीया से उक्त तृतीया का बाध किया जाता है। जिज्ञासा होती है कि परकार्य को पूर्वकार्य कैसे बाध सकता है? तब कहा जाता है कि सामान्यतः तो यद्यपि नहीं बाध सकता किन्तु यहाँ **लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः** सूत्र से अनु शब्द की **कर्मप्रवचनीयसंज्ञा** सिद्ध होते हुये पुनः **अनुर्लक्षणे** से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा का विधान जो किया गया है, तत्सामर्थ्य से **परा अपि तृतीया** पूर्वद्वितीया से बाधित हो जाती है।

**लक्षण** का पारिभाषिक अर्थ है- **यदवश्यं पुनः पुनः लक्ष्यस्य ज्ञापकं, तदेव लक्षणम्**। अर्थात् जो बार-बार सर्वथा लक्ष्य का ज्ञापक हो, उसे लक्षण कहते हैं। किन्तु प्रकृतसूत्र के **लक्षण** शब्द का वैसा अर्थ न लेकर एक बार ज्ञापक होने पर भी उसको लक्षण माना गया है। जैसे कि आपने जिसे **कमण्डलु** के साथ देखा था, वह छात्र है। इस वाक्य में छात्र के साथ कमण्डलु का सम्बन्ध हमेशा नहीं रहता। अतः कमण्डलु लक्ष्य छात्र का पुनःपुनः ज्ञापक नहीं है।

५४९. तृतीयार्थे १।४।८५॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसञ्ज्ञः स्यात्।

नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः। 'षिञ् बन्धने' क्तः।

**तृतीयार्थे**। तृतीयाया अर्थस्तृतीयार्थस्तस्मिन् तृतीयार्थे, षष्ठीतत्पुरुषः। तृतीयार्थे सप्तम्यन्तमेकपदं सूत्रम्। **कर्मप्रवचनीयाः** का अधिकार है तथा **अनुर्लक्षणे** से अनुः की अनुवृत्ति आती है।

**तृतीया का अर्थ द्योत्य होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।**

यद्यपि तृतीया के अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ पर **सह** अर्थ ही लिया जाता है। अन्य अर्थों में **कर्मप्रवचनीयसंज्ञा** का कोई फल नहीं है। तृतीया के मुख्य अर्थ **कर्ता** और **करण** में कारकविभक्ति के बलवान् होने से कर्मप्रवचनीयसंज्ञाप्रयुक्त उपपदविभक्ति निष्पल होती है- **उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी**।

**नदीमन्ववसिता सेना**। सेना नदी के साथ-साथ लगी हुयी है। यहाँ अनु का अर्थ है- सह, साथ। अर्थात् अनु के द्वारा सहभाव द्योतित हो रहा है। सहार्थ तृतीया का होता है। **सह** का योग हो अथवा सह-शब्द अध्याहृत हो तो दोनों अवस्थाओं में **सहयुक्तेऽप्रधाने** से तृतीया विभक्ति होती है। अतः अनु यहाँ तृतीया के अर्थ में प्रयुक्त है। फलतः तृतीयार्थ द्योतक अनु की **तृतीयार्थे** सूत्र के द्वारा कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाने पर उसके योग में **नदी** शब्द में **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** से द्वितीया विभक्ति होकर **नदीम् अन्ववसिता सेना** वाक्य सिद्ध हो जाता है।

**नद्या सह सम्बद्धा इत्यर्थः**। अर्थात् **नदीमन्ववसिता** का अर्थ है- नदी के साथ सम्बद्ध सेना है।

**षिञ् बन्धने, क्तः**। अव-पूर्वक बन्धनार्थक षिञ् (सि) धातु से क्त प्रत्यय होकर अवसित-शब्द बनता है और **सेना** का विशेषण होने के कारण इसमें भी स्त्रीत्वविवक्षा होने से **अजाद्यतष्टाप्** से टाप् प्रत्यय होकर **अवसिता** शब्द बना है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- **सम्बद्धा**। यद्यपि षिञ् धातु का बन्धन अर्थ है तथापि उपसर्ग के बल पर **सम्बद्ध** अर्थ हो जाता है।

५५०. हीने १।४।८६॥

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः।

**हीने**। सप्तम्यन्तमेकपदं सूत्रम्। **कर्मप्रवचनीयाः** का अधिकार है और **अनुर्लक्षणे** से अनु की अनुवृत्ति आती है।

हीन अर्थ के द्योत्य रहते 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।

अनु हरिं सुराः। देवगण हरि से हीन (न्यून) हैं। यहाँ पर दो पदार्थ हैं- हरि तथा सुर। हीनता अथवा उत्कृष्टता का व्यवहार दो पदार्थों के रहने में ही सम्भव होता है। इनमें उत्कृष्ट हरिं है तथा हीन सुर। यहाँ अनु शब्द से हीन अर्थ द्योत्य है। अतः उसकी हीने सूत्र के द्वारा कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर कर्मप्रवचनीय से युक्त हरि शब्द में कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर अनु हरिं सुराः वाक्य बन जाता है। दो पदार्थों के रहने पर हीनभाव प्रकट हो सकता है। एक दूसरे से उत्कृष्ट और दूसरा पहले से निकृष्ट आदि। इस प्रकार एक निकृष्ट होगा और दूसरा उत्कृष्ट। इन दोनों में से उत्कृष्ट से ही द्वितीया विभक्ति आती है, हीन से नहीं। उसका क्रिया के साथ अन्वय होने से प्रथमा बाध देती है।

हरेर्हीना इत्यर्थः। अर्थात् अनु हरिं सुराः का अर्थ है देवलोग हरि से हीन (निकृष्ट, न्यून) हैं।

#### ५५१. उपोऽधिके च १।४।८७॥

अधिके हीने च द्योत्य उपेत्यव्ययं प्राक्सञ्ज्ञं स्यात्।

अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने- उप हरिं सुराः।

उपोऽधिके च। उपः प्रथमान्तम्, अधिके सप्तम्यन्तं, चाव्ययम्। कर्मप्रवचनीयाः का अधिकार है और च शब्द से पूर्वसूत्र के हीने शब्द का अनुकर्षण होता है।

अधिक और हीन इन दो अर्थों के द्योत्य रहते 'उप' इस अव्यय की कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञा होती है।

प्राक्सञ्ज्ञः=पूर्वकथित संज्ञा वाला हो जाता है अर्थात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है।

अधिके सप्तमी वक्ष्यते। यहाँ पर हीन अर्थ का ही उदाहरण दिया जायेगा। अधिक अर्थ में आगे यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी सूत्र से सप्तमी विभक्ति कही जायेगी। इस तरह उप शब्द की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने पर हीन अर्थ में द्वितीया और अधिक अर्थ में सप्तमी होती है।

हीने। हीन अर्थ द्योत्य होने पर विहित कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्द के योग में उदाहरण दिया जा रहा है-

उप हरिं सुराः। देवगण हरि से हीन (न्यून) हैं। यहाँ उप शब्द से हीन अर्थ द्योत्य है। अतः उसकी उपोऽधिके च सूत्र के द्वारा कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर कर्मप्रवचनीय से युक्त हरि शब्द में कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर उप हरिं सुराः वाक्य बन जाता है। दो पदार्थों के रहने पर हीनभाव प्रकट हो सकता है। एक दूसरे उत्कृष्ट और दूसरा पहले से निकृष्ट आदि। इस प्रकार एक निकृष्ट होगा और दूसरा उत्कृष्ट। इन दोनों में से उत्कृष्ट से ही द्वितीया विभक्ति आती है, हीन से नहीं। ध्यान रहे कि प्रकृत सूत्र के द्वारा अधिकार्थक उप शब्द की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा द्वितीया विभक्ति के लिए नहीं है, प्रत्युत यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी सूत्र से विधीयमान सप्तमी विभक्ति के लिए है। अतः केवल हीनार्थक उप शब्द जो कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है, के योग में ही द्वितीया विभक्ति हुयी है।

#### ५५२. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसञ्ज्ञाः स्युः।

लक्षणे- वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत्।

इत्थंभूताख्याने- भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा।

भागे- लक्ष्मीर्हरिं प्रति परि अनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः।

वीप्सायाम्- वृक्षं वृक्षं प्रति

परि अनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिञ्चति।

लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः। कञ्चित्प्रकारं प्राप्तः इत्थम्भूतः, इत्थम्भूतस्य आख्यानम् इत्थम्भूताख्यानम्, षष्ठीतत्पुरुषः। लक्षणं च इत्थम्भूताख्यानं च भागश्च वीप्सा च लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सास्तासु लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिश्च परिश्च अनुश्च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः प्रतिपर्यनवः। लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु सप्तमीबहुवचनान्तं, प्रतिपर्यनवः प्रथमान्तम्। कर्मप्रवचनीयाः का अधिकार है।

लक्षण=ज्ञापक, इत्थम्भूताख्यान=वह प्रकार 'इस प्रकार का है' ऐसे आख्यान में, भाग=स्वीकार्य अंश तथा वीप्सा=व्याप्ति अर्थों के विषय होने पर प्रति, परि तथा अनु अव्यय शब्दों की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।